

वे गांधी का नाम तो लेते हैं, मगर मंदिर गोडसे का बनाते हैं

गोडसे को महिमामंडित करके किसी विचार को नहीं, सिर्फ एक ऐसे शख्स को स्थापित कर रहे हैं, जिसने भारत में राजनीतिक हत्याओं की शुरुआत की थी।

वरिष्ठ पत्रकार रामस्वरूप मंत्री का विश्लेषण

नाथूराम गोडसे पर फिर से बहस हो रही है। पहले फिल्म अभिनेता कमल हासन ने उसे आजाद भारत का पहला आतंकवादी बताया, फिर प्रज्ञा ठाकुर ने नाथूराम गोडसे को देशभक्त बताया। उन्होंने कहा कि गोडसे को आतंकी कहने वालों को अपने गिरेबां में झांकना चाहिए। यह सब करते हुए ये लोग कुछ ऐसी मुद्रा अपनाए हुए हैं, जैसे गोडसे पर बात करना कोई विद्रोही, क्रांतिकारी काम हो।

यह बहस नई नहीं है, लेकिन जो नया है वो यह कि पिछले कुछ दिनों से नाथूराम गोडसे के नाम का जयकारा खुले तौर पर लगाया जाने लगा है। सोशल मीडिया पर प्रतिक्रिया देते हुए भी और असल जिंदगी में बात करते हुए भी लेकिन ऐसा करना हमारे लिए कितना हितकर है?

सच्चाई यह है कि 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की हत्या के बाद से ही गोडसे कभी चर्चा से बाहर नहीं हुआ। उसके पक्ष में किताब और लेख लिखे गए। मराठी में 'मी नाथूराम गोडसे बोलतोय' नामक नाटक लिखा और खेला गया। कई फिल्मों में गोडसे के चरित्र को तेजस्वी रूप में पेश किया गया।

गोडसे के बारे में बात करना या लिखना या उसके नाम पर चुनाव प्रचार करना, कुछ भी भारत में प्रतिबंधित नहीं है। इन संगठनों का कहना है कि कांग्रेस ने हमेशा नाथूराम को एक खलनायक के रूप में पेश किया, लेकिन वे गोडसे को गांधी के बरक्स नए नायक के रूप में पेश करना चाहते हैं। लेकिन इन संगठनों को जरा भी अहसास नहीं है कि गोडसे को महिमामंडित करके वे किसी विचार को नहीं, सिर्फ एक ऐसे शख्स को स्थापित कर रहे हैं, जिसने भारत में राजनीतिक हत्याओं की शुरुआत की थी।

गांधी की हत्या इसलिए हुई कि धर्म का नाम लेने वाली सांप्रदायिकता उनसे डरती थी। भारत-माता की जड़मूर्ति बनाने



वाली, राष्ट्रवाद को सांप्रदायिक पहचान के आधार पर बांटने वाली विचारधारा उनसे परेशान रहती थी। गांधी धर्म के कर्मकांड की अवहेलना करते हुए उसका मर्म खोज लाते थे और कुछ इस तरह कि धर्म भी सध जाता था, मर्म भी सध जाता था और वह राजनीति भी सध जाती थी जो एक नया देश और नया समाज बना सकती थी।

गांधी अपनी धार्मिकता को लेकर हमेशा निष्कंप, अपने हिंदुत्व को लेकर हमेशा असंदिग्ध रहे। राम और गीता जैसे प्रतीकों को उन्होंने सांप्रदायिक ताकतों की जकड़ से बचाए रखा, उन्हें नए और मानवीय अर्थ दिए। उनका भगवान छुआछूत में भरोसा नहीं करता था, बल्कि इस पर भरोसा करने वालों को भूकंप की शक्ल में दंड देता था। इस धार्मिकता के आगे धर्म के नाम पर चलने वाली और राष्ट्र के नाम पर दंगे करने वाली सांप्रदायिकता खुद को कुंठित पाती थी। गोडसे इस कुंठा का प्रतीक पुरुष था जिसने धर्मनिरपेक्ष नेहरू या सांप्रदायिक जिज्ञा को नहीं, धार्मिक गांधी

को गोली मारी।

लेकिन मरने के बाद भी गांधी मरे नहीं। आमतौर पर यह एक जड़ वाक्य है जो हर विचार के समर्थन में बोला जाता है, लेकिन ध्यान से देखें तो आज की दुनिया सबसे ज्यादा तत्व गांधी से ग्रहण कर रही है। वे जितने पारंपरिक थे, उससे ज्यादा उत्तर आधुनिक साबित हो रहे हैं। वे हमारी सदी के तर्कवाद के विरुद्ध आस्था का स्वर रचते हैं। हमारे समय के सबसे बड़े मुद्दे जैसे उनकी विचारधारा की कोख में पल कर निकले हैं। मानवाधिकार का मुद्दा हो, सांस्कृतिक बहुलता का प्रश्न हो या फिर पर्यावरण का- यह सब जैसे गांधी के चरखे से, उनके बनाए सूत से बंधे हुए हैं।

गांधी को याद करते हुए यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि दरअसल यह जीवन-दृष्टि है- जीवन को देखने का नज़रिया- जो किसी को गोडसे और किसी को गांधी बनाता है। जीवन में फांफ तब पैदा होती है, जब हम गांधी की तरह होना चाहते हैं, लेकिन गोडसे की तरह हरकत करते हैं।

भारतीय समाज में यह विडंबना आज कुछ ज्यादा ही विकट हो गई है। गांधी से हर कोई श्रद्धा रखता है, लेकिन गांधी के मूल्यों की परवाह नहीं करता। दरअसल, गांधी भी कई तरह के हैं। कुछ आसान गांधी हैं, कुछ मुश्किल गांधी हैं, कुछ बेहद मुश्किल गांधी हैं और कुछ लगभग असंभव लगते गांधी हैं। आसान गांधी के अनुसरण का एक रास्ता फिल्म 'लगे रहो मुन्नाभाई' ने दिखाया था- यह अहिंसक प्रतिरोध का रास्ता है।

इस फिल्म के बाद फूल देकर विरोध करने का चलन बढ़ा। मोमबत्ती जलाकर विरोध जताना इसी अहिंसक प्रतिरोध का एक और रूप है। राजनीतिक दलों के उपवास या धरने को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है, हालांकि उन्होंने गांधी के उपवास में आत्मशुद्धि का जोतत्व था, उसे भुला दिया है।

एक और आसान गांधी हैं, जिनका वास्ता स्वच्छता, सहिष्णुता जैसे मूल्यों से है। कई एनजीओ अपने आचरण में तो नहीं, लेकिन सिद्धांत में इस गांधीवाद के रास्ते पर चलते दिखाई पड़ते हैं। हालांकि, गांधी के सदाचार के कठोर नियम उनकी व्यावहारिक समाजसेवा के रास्ते में बाधक बनते जाते हैं, लेकिन ये सजावटी या दिखावटी गांधी हैं। असली गांधी धीरे-धीरे चुनौतियां कड़ी करते जाते हैं। सर्वधर्म समभाव की उनकी शर्त इस देश में बहुसंख्यकों की राजनीति करने वाली वैचारिकी के गले नहीं उतरती।

कई बार लगता है कि इसी सर्वधर्म समभाव की वजह से उनकी हत्या भी हुई। दिलचस्प यह है कि सर्वधर्म समभाव का यह बीज गांधी कहीं बाहर से आया नहीं करते, भारतीयता की मिट्टी से ही खोज निकालते हैं। वे सच्चे हिंदू हैं, बल्कि इतने सच्चे कि हिंदुत्व के भीतर जो गंदगी है, उसको भी दूर करने को कटिबद्ध दिखते हैं।

पहले अछूतोंद्वारा का आंदोलन चलाने हैं और फिर यह समझते हैं कि उद्धार की ज़रूरत अछूतों को नहीं, उन वर्गों को है जिन्होंने एक तबके को अछूत बना रखा है। यह लगता है कि गांधी कुछ समय और जीते तो शायद इस सड़े-गले हिंदुत्व की

कुछ और सर्जरी कर डालते, धीरे-धीरे गांधी कुछ और कड़े होते जाते हैं। वे मनुष्यता की शर्तें निर्धारित करने लगते हैं- वे चाहते हैं कि हर आदमी अपनी ज़रूरत भर ले, उससे ज्यादा नहीं।

वे युवराजों को झोपड़ों में रहने की सलाह देते हैं, डॉक्टरों और वकीलों को उपभोग और झगड़े की जीवन शैली को बढ़ावा देने के लिए दुत्कारते हैं, वे देश और धर्म की बनी-बनाई श्रेणियों के पार जाते दिखते हैं, वे राष्ट्रवाद के उद्भूत आग्रह को आईना दिखाते हैं, वे अपने विख्यात गोप्रेम के बावजूद जबनन गोकशी रोकने के खिलाफ नज़र आते हैं, वे अपने बुने कपड़ों, अपने उगाए अन्न और अपने बनाए औजारों पर इतना ज़ोर देते हैं कि उनका ग्राम स्वराज लगभग असंभव जान पड़ता है- आज के दुनियादार लोगों के लिए तो वे किसी और जमाने के पीछे छूटे हुए नेता भर हैं, जिनकी मूर्ति पर माल्यापण कर देना, जिनकी तस्वीर दफ़्तर में टांग लेना काफी है।

लेकिन यह अव्यावहारिक गांधी भी मौजूदा राजनीतिक प्रतिष्ठान को डराता है। गांधी के आईने में उसकी अपनी वैचारिकी के विद्वेष दिखाई पड़ते हैं। गांधी के सर्वधर्म समभाव के आगे उसकी उद्भूत बहुसंख्यक राजनीति मंद जान पड़ती है, गांधी के स्वदेशी के आगे उसके स्वदेशी का खोखलापन उजागर हो जाता है, गांधी जो देश बनाना चाहते हैं, उसके आगे इसका राष्ट्रवाद संकुचित और सीमित दिखाई पड़ता है। गांधी के गोप्रेम के आगे इनकी गोरक्षा आपराधिक और हिंसक नज़र आती है। और तो और, गांधी जिस राम के उपासक हैं, उसके आगे बीजेपी के जयश्री राम बहुत सारे लोगों को पराये लगने लगते हैं।

लेकिन इस गांधी को वे उस तरह नहीं मार सकते, जिस तरह गोडसे ने मारने की कोशिश की। इसलिए वे गांधी का नाम तो लेते हैं, मगर मंदिर गोडसे का बनाते हैं। गांधी की या किसी भी निर्दोष व्यक्ति की हत्या को अगर न्यायोचित ठहराया गया तो इससे भारतीय लोकतंत्र पराजित होगा और देश के घोषित तालिबानीकरण की शुरुआत हो जाएगी। बेहतर होगा कि ये संगठन समय रहते इस बात को समझ लें, क्योंकि बाद में उन्हें पछताने का भी समय नहीं मिले।

मुखौटा नहीं मूल्य है धर्मनिरपेक्षता

अशोक माथुर

भाजपा लगातार कहती रही है कि कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता च्छद्म धर्मनिरपेक्षता है और वह ही सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता लाएगी। आज के दौर में धर्मनिरपेक्षता का मर्म समझा जाना ज़रूरी है।

विभिन्न समुदायों के बीच सौहार्द की गारंटी की बात संविधान की प्रस्तावना में भी उल्लिखित है। धर्मनिरपेक्षता केवल अल्पसंख्यकों के लिए ही नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए एक अच्छा विचार है। यहां तक कि विदेशियों के लिए भी। एक सिद्धांतवादी राज्य में आम तौर पर राज्य ही राज धर्म को मुखर करता है। धर्मनिरपेक्षता तकाजों को सहेजे रखने की जिम्मेदारी अल्पसंख्यकों की ही नहीं होती।

भाजपा मुख्यालय में अपने विजयोपरांत संबोधन में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने धर्मनिरपेक्षता के मुद्दे पर रोचक बात कही। उन्होंने कहा कि तीस वर्षों तक झूठी धर्मनिरपेक्षता का मुलामा चढ़ाया जाता रहा और जिसने इसकी आड़ ले ली तो समझो उसके सारे पाप धुल गए।

इस बात में कुछ सच्चाई भी है क्योंकि कुछ नेताओं के भ्रष्टाचार और अन्य प्रतिगामी जातिवादी नीतियों को मात्र इसलिए अनदेखा कर दिया गया कि उन्होंने धर्मनिरपेक्षता के प्रति थोड़ी प्रतिबद्धता दिखाई थी। भले ही बराए नाम ऐसा किया हो।

अपने अंदाज में प्रधानमंत्री ने आगे कहा कि चंडू चुनाव में कोई भी दल धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा पहन कर देश को गुमराह करने की हिम्मत नहीं कर सका। जो तो क्या धर्मनिरपेक्षता मुखौटा है, या फिजूल की

अवधारणा ?

प्रधानमंत्री के कथन में दम ज़रूर है क्योंकि हम पाते हैं कि कथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियां भी सही मायनों में धर्मनिरपेक्ष नहीं हैं। अनेक दफा हुआ है, जब इन पार्टियों ने धर्म या धार्मिक प्रतीकों का चुनावी इशारे से इस्तेमाल किया। राजीव गांधी ने 1989 में अपने चुनाव अभियान की शुरुआत अयोध्या से की।

जहां तक भाजपा का प्रश्न है, तो इसके नेताओं ने मतदाताओं का ध्रुवीकरण करने में कभी हिचक नहीं दिखाई। कांग्रेस पर मुस्लिम तुष्टिकरण का दोष मढ़ा जाता है, तो भाजपा भी बिना खटकें संवैधानिक मूल्यों की परवाह किए बिना हिंदू तुष्टिकरण में मुब्तला देखी जा सकती है।

इतना ही नहीं सुप्रीम कोर्ट की आरवाई प्रभु मामले में इस व्यवस्था से धर्मनिरपेक्षता के भाव को खासा झटका लगा कि हिंदुत्व के नाम पर वोट मांगना भ्रष्ट चुनावी कदाचार नहीं है।

सत्रह अक्टूबर, 1949 को संविधान की प्रस्तावना पर चर्चा हो रही थी, तो एचवी कामथ ने प्रस्ताव रखा कि प्रस्तावना की शुरुआत भगवान के नाम पर शब्दों से होनी चाहिए। डा. राजेन्द्र प्रसाद, जो परंपरावादी हिंदू थे, ने कामथ से ईश्वर के उल्लेख संबंधी अपना संशोधन प्रस्ताव वापस लेने का आग्रह किया। लेकिन कामथ अपने रुख पर अड़े रहे। मतदान की नौबत आ गई और प्रस्ताव 41-68 से गिर गया।

इसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष शब्द को विशिष्ट रूप से शामिल तो नहीं किया गया लेकिन सदस्य एकमत थे कि हमारा संविधान उदार

लोकतांत्रिक संविधान होगा। उन मूल्यों के अनुरूप होगा जिन्हें हासिल करने के लिए हमने आजादी का संघर्ष किया।

संविधानगत मौन भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए जज संघीयज शब्द इस्तेमाल नहीं किया है, लेकिन संघीयता संविधान का आधार है।

बुनियादी रूप से धर्मनिरपेक्षता में तीन प्रकार के संबंध निहित हैं, जो राज्य, धर्म और नागरिकों के मध्य हैं। राज्य को धर्म से ऊपर होना चाहिए। जहां तक धर्म और नागरिकों के संबंध का प्रश्न है, तो नागरिकों को किसी भी धर्म का अनुसरण करने का अधिकार है, और जहां तक राज्य और नागरिकों के संबंध की बात है, तो राज्य को सुनिश्चित करना है कि किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव न होने पाए। इस प्रकार, धर्मनिरपेक्षता और कुछ नहीं तटस्थता, स्वतंत्रता और समानता ही है।

बीते वर्ष दिसम्बर माह में मेघालय उच्च न्यायालय के जस्टिस एसआर सेन ने इच्छा जताई कि भारत को हिंदू राष्ट्र घोषित कर दिया जाना चाहिए। कहा साफ कर देना चाहता हूँ कि किसी को भी भारत को एक और इस्लामी देश बनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए नहीं तो भारत और विश्व के लिए कयामत ही आ जाएगी।

भारत के इस्लामी देश बनने की दूर-दूर तक कोई संभावना नहीं है। लेकिन वह दिन कयामत का होगा जब भारत हिंदू राष्ट्र बन जाएगा। चौबीस मई, 2019 को मेघालय उच्च न्यायालय की खंड पीठ ने जस्टिस सेन के फैसले को नामंजूर कर दिया। कहा कि यह फैसला संवैधानिक रूप से दोषपूर्ण है

और संविधानगत सिद्धांतों से इसका कोई तारतम्य नहीं बैठता।

भाजपा के कुछ नेता तर्क देते हैं कि संविधान मूल रूप से धर्मनिरपेक्ष नहीं था, और यह शब्द इंदिरा गांधी ने 1976 में 42वां संविधान संशोधन करके प्रस्तावना में जुड़वाया था। इस तरह यह विचार धर्मनिरपेक्षता को हमारी सांस्कृतिक विरासत के तौर पर खारिज कर देता है।

कट्टर हिंदू दक्षिणपंथ धर्मनिरपेक्षता के विरोध में हैं क्योंकि यह धर्म को निजी मामला मानने के खिलाफ है और धर्मनिरपेक्षता को ईसाई विचार के रूप में ही देखती है, जो अल्पसंख्यकों का तुष्टिकरण ही है। इस प्रकार भाजपा ने नारा दिया: किसी का नहीं तुष्टिकरण, सभी को न्याय।

हरत तो यह है कि किसी भी धर्मनिरपेक्ष पार्टी ने कभी भी तुष्टिकरण की तथ्यात्मक रूप से गलत अवधारणा को खत्म करने का प्रयास नहीं किया क्योंकि मुस्लिम आज भी उतने ही पिछड़े हैं, जितने दलित हैं, और जेलों को छोड़कर राज्य के तमाम संस्थानों में उनका प्रतिनिधित्व बेहद कम है।

हिंदू दक्षिणपंथी तर्क रखते हैं कि जो व्यवस्था संशोधन के जरिए की गई है उसे एक अन्य संशोधन के जरिए हटाया भी जा सकता है। इस तर्क में दो खामियां हैं। पहली तो यह कि भारत तो 1976 से पहले भी धर्मनिरपेक्ष ही था। बयालीसवां संशोधन होने के तीन साल पहले सुप्रीम कोर्ट की तरह सदस्यीय पीठ ने केशवानंद भारती (1973) मामले में धर्मनिरपेक्षता को संविधान का आधार करार दिया था।

एसआर बोम्मई (1994) मामले में सुप्रीम कोर्ट ने बाबरी मस्जिद के विध्वंस के पश्चात न केवल भाजपा सरकारों को हटाए जाने का अनुमोदन किया, बल्कि कहा कि धर्मनिरपेक्षता लोकतांत्रिक सरकार के सफल कामकाज के लिए अनिवार्य है। प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म की अनुपालना का अधिकार है, और राज्य को सभी नागरिकों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए। भले ही वे किसी भी विश्वास को मानते हो। राज्य धर्म विशेष को तरजीह नहीं दे सकता।

शीर्ष अदालत ने भारतीय मूल्यों से धर्मनिरपेक्षता के विचार को इतर नहीं माना, बल्कि माना कि धर्मनिरपेक्षता का विचार भारतीय सांस्कृतिक या सभ्यतागत मूल्यों से ग्रहण किया जा सकता है। ये मूल्य सहिष्णुता, सौहार्द और प्रत्येक व्यक्ति को उसी रूप में स्वीकार करने की बात हैं जैसा कि वह है। जस्टिस जीवन रेड्डी ने सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता शब्द का उपयोग किया। लेकिन उनका भाव भाजपा की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा से पूरी तरह भिन्न है।

उन्होंने कहा था कि अदालत अपनी सभ्यतात्मक भूमिका का निर्वहन करेगी और उन स्थितियों में निर्णायक हस्तक्षेप करेगी जहां सांप्रदायिक सौहार्द और सहिष्णुता पर गंभीर खतरे मंडराने का अंदेशा उठ खड़ा होगा। आइए, उम्मीद करते हैं कि अदालत भविष्य में भी अपने हस्तक्षेपात्मक भूमिका का निर्वहन करती रहेगी।

राज्य और धर्म को पृथक रखने की जो रेखा है, उसे वास्तव में ऊंचा रखना ही होगा। अपराजेय रखना होगा।